

फेल न करने की नीति का जिन्न

3 जनवरी 2019 को संसद ने निःशुल्क और अनिवार्य बाल शिक्षा अधिकार कानून में संशोधन को मंजूरी दे दी है। इस संशोधन के बाद अब बच्चों को 5वीं व 8वीं कक्षा की परीक्षा में फेल किया जाना संभव होगा और यह निर्णय राज्य सरकारों पर छोड़ दिया गया है कि वे इन कक्षाओं में बच्चों को फेल करने या न करने की नीति में से कौन सी नीति अपनाती हैं। इस तरह इस कानून का जो एक मात्र उदार चेहरा था उससे वह उदारता छीन ली गई है।

यह कानून अपने लागू होने के समय से ही अपने प्रस्तावित मानदंडों (जो कि न्यूनतम हैं) की वजह से लोगों की आंखों में चुभता रहा है। यह उनके हितों पर चोट करता रहा है। शिक्षकों के लिए न्यूनतम अर्हताएं निर्धारित करने व स्कूल के लिए न्यूनतम भौतिक संसाधनों को निर्धारित करने जैसे प्रावधानों के चलते यह सरकारों (केन्द्र व राज्य दोनों क्योंकि शिक्षा दोनों की जिम्मेदारी बनती है) व निजी स्कूल संचालकों के लिए लागू होने के समय से अप्रिय ही बना रहा। निजी स्कूल संचालकों का समूह इसके मानदंडों में छूट की इच्छा पाले बैठा है और इसके लिए न्यायालय तक गया है तो सरकारें इसके लागू होने के लगभग नौ साल बाद भी जरूरी प्रावधानों को पूरा करने में असमर्थ रही हैं। सरकारों द्वारा मानदंड पूरे न कर पाने की वजह से उन्हें पूरा करने की अवधि 2013 से बढ़ा कर 2015 कर दी गई थी और इस दूसरी अवधि को बीते भी लगभग 4 साल का समय होने को है। इससे अंदाजा लगता है कि सरकारों की मंशा शिक्षा को लेकर क्या है।

हम इस कानून में मौजूद फेल न करने की नीति पर दो पहलुओं से विचार करेंगे। पहला सीखने में आकलन की जरूरत के पहलू से व दूसरा पास व फेल होने के सामाजिक निहितार्थों के पहलू से।

सीखने में आकलन की जरूरत

शिक्षा के साथ आकलन की अवधारणा गुंथी हुई है। आकलन की पहली जरूरत सीखने में मदद के लिए आन पड़ती है। कितना सीखा, कहां दिक्कत है आदि का आकलन करके ही सीखने में मदद की जाना संभव है। दूसरी जरूरत प्रमाण के लिए पड़ती है और यह जरूरत तब पड़ती है जब समाज में किसी की सामर्थ्य व योग्यता के बारे में दावा करने के लिए प्रमाण देना हो। इसी जरूरत से प्रमाणपत्र महत्व पाता है।

सीखना कोई एक रेखीय प्रक्रिया नहीं है। हर बच्चे की सीखने की अपनी गति होती है। और यहीं से वह द्वंद्व पैदा होता है जिसका सामना फेल न करने की नीति को करना होता है। कानून 6 से 14 वर्ष की आयुवर्ग के बच्चों को आरंभिक शिक्षा का अधिकार देता है और आरंभिक शिक्षा 8वीं तक मानी जाती है। कानून यह भी कहता है कि बच्चों को उनकी उम्रानुसार कक्षा में प्रवेश दिया जाना आवश्यक है। बच्चे को उस उम्र के समकक्ष कक्षा तक की योग्यता विकसित करने में अतिरिक्त मदद करना सरकार व व्यवस्था की जिम्मेदारी है। यही वह पेच है जहां इस कानून में परिभाषित आरंभिक शिक्षा एक-एक साल की कक्षाओं में बंटी नजर आने लगती है। और यह सीखने की अपनी गति होने के विचार का खंडन करने लगती है। अब आपको आरंभिक शिक्षा और उसकी पाठ्यचर्या एक-एक साल की आठ कक्षाओं में बंटी दिखने लगती है। हर कक्षा को एक वर्ष के तय समय में पूरा हो जाना है। और तो और उम्र सापेक्ष कक्षा में प्रवेश देने का निर्धारण भी इस कक्षा आधारित व्यवस्था को ही स्पष्ट करता है। कक्षा की इस जकड़बंदी के सापेक्ष सतत एवं समग्र मूल्यांकन की धारणा है जो बच्चे की सीखने की गति को महत्व देना चाहती है। इस नजर से आकलन को

सतत होना चाहिए व सीखने में मददगार होना चाहिए। आकलन की सतत धारणा में कक्षा का विलोप हो जाता है और बच्चों के ऐसे समूह सामाने होते हैं जो सीखने के विविध स्तरों पर हो सकते हैं। ऐसे में आरंभिक शिक्षा कक्षाओं में बंटी न होकर एक समग्र अवधि में नजर आने लगती है। यह अवधि एक दायरे में हो सकती है, जैसे लगभग सात से नौ साल के दायरे में। और आकलन के लिए स्तर निर्धारित किए जा सकते हैं। बच्चे इन स्तरों को अपनी सीखने की गति से हासिल कर सकते हैं। ऐसा करते ही कक्षा की अवधारणा का लोप हो जाता है और बच्चों को अपनी गति से सीखने का अवसर मिल जाता है। बच्चे अपनी सीखने की गति से सात से नौ साल के दरमियान अपनी आरंभिक शिक्षा पूरी कर सकते हैं। यहां आरंभिक शिक्षा पूरी करना इसके लिए निर्धारित सीखने के स्तर को हासिल करना है यानी उस सामर्थ्य व योग्यता को हासिल करना है जो आरंभिक शिक्षा के लिए निर्धारित की गई है। अब सवाल उठता है कि यह कैसे भरोसा करें कि आरंभिक शिक्षा सात से नौ साल की अवधि के दरमियान हो जाएगी? तो देश में हुए नवाचारों का अनुभव व सीखने के सिद्धांत यह बताते हैं कि बच्चे अपनी गति से सीखते हुए भी उन स्तरों को इस दायरे में फेली अवधि में हासिल कर लेते हैं। सीखने को कक्षा की जकड़बंदी में परिभाषित करना व आकलन को उदार, प्रगतिशीलता में परिभाषित करना ही वह द्वंद है जिसकी वजह से फेल न करने की नीति का जिन्न इस कानून का पीछा नहीं छोड़ता और वह समय-समय पर बोटल से बाहर आ खड़ा होता है क्योंकि कक्षाओं की जकड़बंदी यह निर्णय लेने पर मजबूर करती है कि बच्चे ने चाहे सीखा हो या न सीखा हो उसे एक साल में एक कक्षा को पार कर ही जाना है और इसका परिणाम बच्चों द्वारा बिना सीखे ही आगे प्रोन्नत होते चले जाने के रूप में सामने आता है। यानी आरंभिक शिक्षा के अंत में हाथ आने वाला प्रमाणपत्र बच्चे द्वारा हासिल किए गए सीखने के स्तर या कहीं बच्चे द्वारा हासिल की गई सामर्थ्य व योग्यताओं का प्रमाणपत्र होने के बजाए बच्चे द्वारा स्कूल में बिताए समय का प्रमाणपत्र मात्र बन कर रह जाता है। इस द्वंद से निपटने के लिए फेल करने की जड़ व प्रतिगामी नीति पर लौट आने का विकल्प उपलब्ध करवाना एक प्रतिगामी कदम है। बेहतर होता कि हम कुछ और आगे बढ़ते व कक्षा के चौखटे से शिक्षा को मुक्त कर पाते क्योंकि कक्षा की धारणा में सीखने की प्रेरणा के रूप में फेल हो जाने का भय मौजूद है। और मनोविज्ञान हमें बताता है कि भय सीखने के लिए के कभी प्रेरणा नहीं हो सकता।

पास व फेल होने के सामाजिक निहितार्थ

पास व फेल होने में परीक्षा की धारणा निहित है। परीक्षा बच्चों में असफलता का बोध जगाती है। वह फेल हो जाने वाले बच्चों को यह अहसास करवाती है कि वे इस शिक्षा व्यवस्था में असफल हो चुके हैं। ऐसा करके वह शिक्षा हासिल करने के बाद उनके भीतर पैदा हो जाने वाली किसी ना किसी तरह का रोजगार या काम पाने की महत्वाकांक्षाओं और उम्मीदों पर लगाम लगाती है। वह उन्हें यह बोध करवाती है कि वे इस लायक नहीं हैं कि इस व्यवस्था से किसी तरह के रोजगार या काम की उम्मीद करें। इस नजर से देखें तो दरअसल परीक्षा इस व्यवस्था की मददगार होती है। वह सफलतापूर्वक शिक्षा हासिल कर निकलने वाले लोगों व रोजगार के पैदा होने वाले अवसरों के बीच एक संतुलन स्थापित करने का काम करती रहती है। जाने-माने शिक्षाविद प्रोफेसर कृष्ण कुमार परीक्षा के बारे में कहते हैं, “यह प्रणाली इस धुरी पर आधारित है कि हर छात्र सफल नहीं हो सकता। क्योंकि शिक्षा का काम है कि वह समाज में इतने ज्यादा लोगों को सफल न होने दे कि फिर उनके लिए रोजगार या उनके कौशल या बुद्धि के लायक कोई काम उपलब्ध कराने में समस्या हो। अगर समाज में व्यवस्था नहीं है तो समाज एक सीमा से ज्यादा निराशा नहीं वितरित करना चाहता। निराशा बाद में हो इससे बेहतर है कि उनको पहले ही रोक दिया जाए। समाज व्यवस्था इस तरह से काम करती रही है या काम करती है।”* और इसी वजह से सत्ता को या व्यवस्था को परीक्षा बहुत पसंद आती है। इसीलिए व्यवस्था कक्षा 5 व 8 से ही परीक्षा करवाने की हिमायती रहती है ताकि इस निचले स्तर से ही छंटनी शुरू हो जाए और सत्ता या व्यवस्था पर कम से कम लोगों को रोजगार या काम उपलब्ध करवाने का दबाव बने। क्योंकि आकलन अगर व्यक्तिगत विविधता को अपने में समाहित करने लगेगा और इतना रचनात्मक हो जाएगा कि हर व्यक्ति को किसी ना किसी खासियत, कौशल व रुचि के आधार पर सफल घोषित करने लगेगा तो अंततः यह सभी सफल लोग अपने

* सफलता में विविधता के लिए आकलन, प्रो. कृष्ण कुमार से विश्वंभर की बातचीत, शिक्षा विमर्श, मई-जून 2015, शैक्षिक मूल्यांकन विशेषांक, http://www.digantar.org/uploads/shiksha-vimarsh/articles/2015_05_02.pdf

लायक कोई ना कोई काम हासिल करने की उम्मीद पालने लगेंगे ऐसे में भारत जैसे देश में जहां रोजगार के अवसर बहुत सीमित क्षेत्रों में हैं यह जरूरी है कि लोगों को असफल करार दिया जाए। और इसे इतने वस्तुनिष्ठ ढंग से किया जाए कि किसी पर उंगली तक ना उठे। इसीलिए परीक्षा खुद अपनी वैधता हासिल करने के लिए वस्तुनिष्ठता की उंगली थामती है और आगे बोर्ड स्तर पर पूरी परीक्षा व्यवस्था इतनी वस्तुनिष्ठ ढंग से संचालित की जाती है। बोर्ड परीक्षा के लिए बाकायदा प्रश्न पत्र इस तरह बनाए जाते हैं कि किसने बनाए हैं और किन छात्र-छात्राओं का आकलन करने के लिए बनाए गए हैं इस पर विचार करने की गुंजाइश ही ना बचे। उन्हें दूर बैठा कोई अध्यापक बनाता है और किन्हीं खास बच्चों को ध्यान में रखने की बजाए उन्हें पाठ्यक्रम में शामिल विषयवस्तु के आधार पर सामान्यीकृत ढंग से बनाया जाता है। यह एक तरह से सभी को एक ही बांट से तौल देने जैसा मसला है। या सभी के लिए एक ही नाप का पैजामा सिल देने जैसा है।

परीक्षा की दूसरी दिक्कत इसी वस्तुनिष्ठता के चलते पैदा होती है। इस वजह से वहां जवाबों में विविधता की गुंजाइश लगभग नगण्य रह जाती है। ऐसे सवाल बनाए जाते हैं जिनके उत्तर एक हों। जिन्हें टैक्स्ट के आधार पर वस्तुनिष्ठ ढंग से साबित किया जा सके कि वे सही हैं या गलत। जिन्हें जांचने में रत्तीभर भी यह विचार ना करना पड़े कि उनका कोई दूसरा जवाब भी हो सकता है। और उनका ऐसा होना पाठ्यचर्या व पाठ्यपुस्तक निर्माण से कक्षा शिक्षण तक की हमारी पूरी शिक्षा व्यवस्था को पथ भ्रष्ट कर देता है। अब वे इसी से संचालित होने लगती हैं। इसी के चलते हमारी शिक्षा में पढ़ाए जाने के लायक माने जाले वाले विषयों का दायरा सीमित होने लगता है। उनमें कला, संगीत, कविता, मूल्यों जैसी उन चीजों के लिए गुंजाइश बनाना संभव नहीं रह जाता जिनमें व्यक्तिगत विविधता, विचारों की विविधता, व्याख्याओं की विविधता संभव होती है। शिक्षण के लिए बनने वाली किताबों में वस्तुनिष्ठ जानकारी भरी जाने लगती है, उनमें ऐसे सवाल डाले जाने लगते हैं जिनका जवाब उन्हीं के पाठों में मौजूद हों। इसके परिणामस्वरूप कक्षा शिक्षण रटन्त पद्धति पर चलने लगता है। बच्चों से उन सवालों के जवाब रट लिए जाने की उम्मीद की जाने लगती है। बच्चे सीखने की स्वाभाविक इच्छा के इतर परीक्षा में असफल हो जाने के भय की अभिप्रेरणा से किताबों के सवालों के जवाब रटने लगते हैं ताकि परीक्षा में उन्हें उगला जा सके। इसका घातक परिणाम यह होता है कि हमारी कक्षाओं में विचार करने, कल्पना करने, अपने तर्क देने, विश्लेषण के आधार पर किसी नतीजे पर पहुंचने और अपने आनंद के लिए पढ़ने की गुंजाइश लगभग खत्म हो जाती है और सीखने-सिखाने की सारी प्रक्रिया में असफलता का भय कुंडली मार कर बैठ जाता है। वह उसी से संचालित होने लगती है। पाठ्यचर्या निर्माता, पाठ्यपुस्तक निर्माता, अध्यापक, बच्चे, अभिभावक सभी परीक्षा के इस दुश्चक्र में फंस जाते हैं। और जब भी कोई शिक्षक थोड़ा रचनात्मक होकर शिक्षण करवाने की कोशिश करने लगता है या कोई छात्र तथाकथित (सीमित) पाठ्यक्रम से अलग कुछ सोचने लगता है या करने लगता है तो उसे समय की बर्बादी कहा जाने लगता है। इसी के चलते कला, संगीत, हस्तकला जैसे कामों को पाठ्यचर्या से बाहर कर दिया जाता है। अभिभावकों का ज्यादा से ज्यादा जोर गणित, विज्ञान जैसे वस्तुनिष्ठ किस्म के विषयों को पढ़ाए जाने पर रहने लगता है। समझकर सीखने-सिखाने की गुंजाइश ना के बराबर रह जाती है क्योंकि ध्येय समझकर सीखना नहीं बल्कि परीक्षा में सफलता हासिल करना हो जाता है।

इसका तीसरा असर यह होता है कि शिक्षक की स्वायत्तता छिनने लगती है। केन्द्रीय स्तर पर यह तय किया जाने लगता है। कि किस माह में किस विषय के कौन-कौनसे पाठ पूरे हो जाने चाहिए। शिक्षक को पूरी कक्षा को लगभग एक साथ एक जैसी चीज पढ़ानी पड़ती है। उसके पास छात्रों की सीखने की गति की विविधता के हिसाब से अपनी कक्षा शिक्षण की योजना खुद बनाने की गुंजाइश कम से कम होने लगती है। छात्रों की रुचि में विविधता के हिसाब से अपनी शिक्षण पद्धति को रचनात्मक बनाने की गुंजाइश ना के बराबर हो जाती है। इस तरह सीखने की गति का सिद्धांत कक्षा से बाहर छूट जाता है। बच्चों के जीवनानुभवों को कक्षा से बाहर का रास्ता दिखा दिया जाता है। इस सबका असर यह होता है कि समाज में एकरूपता हावी होने लगती है। विविधता मिटने लगती है। मूल्यों का पतन होने लगता है। समाज सफल और असफल लोगों में विभाजित हो जाता है। ♦

प्रतीक